अमर उजाला

प्रवाह

निर्भीक पत्रकारिता का आठवां दशक
स्थापना वर्ष : 1948

नई दिल्ली ■ शनिवार, 13 जुलाई 2019

यदि आप एक महिला के रूप में सत्ता में शामिल होना चाहती हैं, तो अन्य महिलाओं को भी सशक्त बनाएं...
नीना शॉ, अफ्रीकी-अमेरिकी वकील

श्रम सुधारों से जुड़ी शुरुआती दो संहिताओं को कैबिनेट ने जिस तरह मंजूरी दी है, वह इस क्षेत्र में सरकार की गहन प्रतिबद्धता के बारे में बताती है, हालांकि इन प्रावधानों पर संसद में बहस के अलावा श्रम संगठनों की राय लेना भी जरूरी है।

श्रम सुधारों की ओर

सरकार द्वारा कुल 44 श्रम कानूनों को मिलाकर चार श्रम संहिताएं बनाने का फैसला और इनमें से शुरुआती दो संहिताओं के मसौदों को कैबिनेट की मंजूरी श्रम सुधारों के क्षेत्र में उसकी प्रतिबद्धता के बारे में बताती है, जिससे क्रांतिकारी बदलाव आने की उम्मीद की जा रही है। मसलन, कामगारों का न्यूनतम दैनिक वेतन अब 178 रुपये तय किया गया है, जिसका लाभ अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों के 30 करोड़ श्रमिकों को मिलेगा। यह सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के साथ आर्थिक असमानता भी दूर करेगा। ऐसे ही छोटे कारखानों में भी अब श्रमिकों को नियुक्ति पत्र देने होंगे, दस से कम कर्मचारियों वाली कंपनियों में भी समान सुविधा मिलेगी, हर साल श्रमिकों के स्वास्थ्य की जांच होगी और रात की पाली में काम करने वाली महिलाओं की सुरक्षा की व्यवस्था करनी होगी। हालांकि सुधारों से जुड़े कुछ प्रावधानों पर श्रम संगठनों को आपत्ति है। उनके पदाधिकारियों के लिए पात्रता सरकार द्वारा तय करने और हड़ताल का अधिकार सीमित करने जैसे प्रावधानों पर भारतीय मजदूर संघ तक सहमत नहीं है। श्रम सुधार काफी समय से लंबित है, और संपूर्णता में इसे लागू करने से ही विशाल श्रमिक वर्ग की आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा संभव है। अलबत्ता सुधार से जुड़े शुरुआती मसौदों को सरकार ने जिस तरह हरी झंडी दी है, उससे लगता है कि नियोक्ताओं द्वारा इन्हें लागू कर देने से ही तस्वीर बदल जाएगी। जबकि ऐसा है नहीं। अगर उत्पादकता बढ़े बगैर नियोक्ताओं को न्यूनतम मजदूरी बढ़ानी पड़े, तो फैक्टरियां कम मजदूर रखेंगी। मातृत्व अवकाश लाभ के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है, जिसके तहत निजी क्षेत्र ने महिला कर्मियों को लाभ देने के बजाय उनकी नियुक्तियों में ही कटौती कर दी। चूंकि 93 प्रतिशत कामगार असंगठित क्षेत्र से हैं, ऐसे में श्रम सुधारों को लागू

करना व्यावहारिक रूप से कठिन होगा। ये लाभ तो तब मिलेंगे, जब अर्थव्यवस्था रफ्तार पकड़ेगी और रोजगार सृजन होगा। अभी सिर्फ बेरोजगारी दर ही अधिक नहीं है, अर्थव्यवस्था में श्रमिकों का आंकड़ा भी 2012 के 55.9 फीसदी से घटकर 2018 में 49.8 प्रतिशत रह गया है। लिहाजा बेहतर होगा कि श्रम सुधारों को व्यापकता में लागू करने से पहले संसद में इन पर बहस हो और श्रम संगठनों की भी राय ली जाए।

जाति प्रथा से भीषण है लैंगिक विषमता

जाति प्रथा पर आधारित फिल्म *आर्टिकल 15* की इन दिनों चर्चा है। पर भारत में जातिगत विषमता मिटाने की जितनी कोशिशें हुई हैं, लैंगिक विषमता मिटाने के प्रयत्न, दुर्योग से, उतने नहीं हुए। जब तक महिलाओं के प्रति सोच नहीं बदलेगी, तब तक अपराध में कमी नहीं आएगी।

जाति प्रथा पर आधारित फिल्म *आर्टिकल 15* की इन दिनों काफी चर्चा है। दुनिया में जितनी भी निकृष्टतम प्रथाएं हैं, जाति प्रथा उनमें एक है। निचली जातियों के पुरुष और स्त्री, दोनों का ऊंची जातियां शोषण करती हैं। उसमें भी निचली जातियों की स्त्रियों का सर्वाधिक शोषण होता है। उनका सामूहिक बलात्कार कर उनके गले में रस्सियां बांधकर उन्हें पेड़ की डालियों से लटका दिया जाता है। मानो यह बर्बरता कम न हो, उनके बारे में अफवाह फैला दी जाती है कि वे गलत रास्ते पर चल पड़ी थीं, पकड़े जाने पर उन्होंने आत्महत्या कर ली।

पिछड़ी और निचली जातियों के लोगों में खुद को हीन समझने की मानसिकता है। हालांकि शिक्षा के प्रसार और बढ़ती जागरूकता के कारण इस समाज के युवाओं की सोच बदल रही है। वे खुद को दूसरों के बराबर समझते हैं और अपना अधिकार भी मांगते हैं। लेकिन कुल मिलाकर निचली जातियों में सदियों से यह सोच बनी हुई है कि सवर्णों के सामने उन्हें कुर्सी पर नहीं बैठना चाहिए, अमीरी का प्रदर्शन करते हुए ऊंची जातियों के लोगों के सामने से नहीं निकलना चाहिए। कुछ-कुछ जगह निचली जातियों के बीच यह अंधविश्वास तक व्याप्त है कि सवर्णों की जूठन पर लेटने से उनकी बीमारियां और दूसरी समस्याएं दूर होती हैं। ऐसे न जाने कितने अंधविश्वासों और गलत धारणाओं से हमारा समाज ग्रस्त है। जाति प्रथा और उससे जुड़ी मान्यताओं को ईश्वर का विधि-विधान माना जाता है। ऊंची जातियां इन प्रथाओं को जिस तरह ईश्वर का विधान कहती हैं, नीची जातियां भी इन्हें उसी तरह चुपचाप स्वीकार कर लेती हैं।

तस्लीमा नसरीन
चर्चित लेखिका

संविधान में जाति प्रथा की बुराइयों को दूर करने की बात कहे जाने के बावजूद व्यावहारिक धरातल पर लोग जाति से जुड़ी मान्यताओं को जस का तस स्वीकार करते हैं। जो लोग सार्वजनिक तौर पर जाति प्रथा की बुराइयों के बारे में बात करते हैं, मैंने उन्हें भी भीतरी तौर पर जाति प्रथा

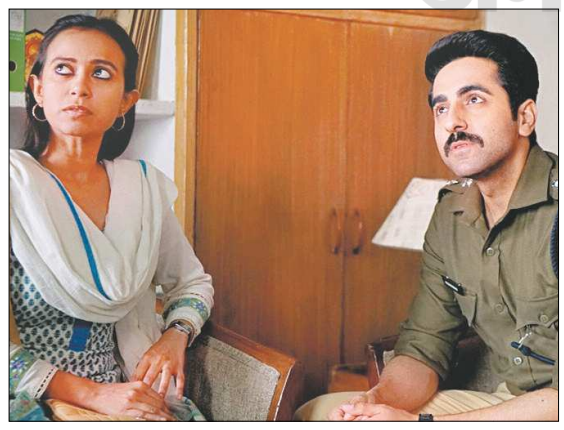

के घनघोर समर्थकों के रूप में पाया है। ऐसे लोगों के दलित दोस्त होते हैं, वे उनके साथ एक साथ भोजन भी कर लेते हैं, लेकिन जैसे ही शादी-ब्याह से जुड़ी बात सामने आती है, उनके भीतर का जातिवाद भीषण रूप से जाग जाता है। और अगर ऐसी दो जातियों के बीच शादी हो भी जाती है, तो सामाजिक बहिष्कार की जगह परिवार और समाज के लोगों द्वारा उनकी हत्या करा देने की आशंकाएं जोर पकड़ने लगती हैं।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 15 कहता है कि जाति, धर्म, लिंग, वर्ण और जन्मस्थान के आधार पर किसी के साथ भेदभाव तो नहीं ही किया जा सकता, दूसरे किसी आधार पर भी भेदभाव की इजाजत नहीं दी जा सकती। पर मुश्किल यह है कि ज्यादातर लोगों के लिए राष्ट्र से भी धर्म बड़ा है। धार्मिक कट्टरवाद तो पहले से ही दुनिया के अनेक देशों में है। अब भारत में भी धर्म को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा है। जबकि इतिहास गवाह है कि जहां-जहां धार्मिक कट्टरवाद को बढ़ावा मिलता है, वहां-वहां समाज के कमजोर वर्गों, जैसे निचली जातियों और महिलाओं, का शोषण और बढ़ जाता है।

आर्टिकल 15 में सामूहिक बलात्कार में ऊंची जातियों के लोगों के साथ-साथ पुलिस की भी लिप्तता दिखाई गई है। पुलिस से लोग डरते हैं। हालांकि इसका मतलब यह नहीं है कि सभी पुलिस वाले गलत ही होते हैं। बेईमानों से भरती जा रही इस पृथ्वी में कम रह गए ईमानदार लोग अपनी ही तरह की ईमानदार पुलिस, ईमानदार वकील और ईमानदार राजनेता की उम्मीद करते हैं।

आर्टिकल 15 फिल्म देखने वालों में से बहुतेरे लोगों ने इसकी प्रशंसा की है। यह फिल्म देखने वाले ऊंची जाति के लोग क्या जाति प्रथा में विश्वास नहीं करते? क्या वे अब पिछड़ों और दलितों को नीची निगाहों से नहीं देखेंगे? क्या वे स्त्री के समान अधिकारों का समर्थन करेंगे? मुझे नहीं लगता कि बचपन से जाति प्रथा में दीक्षित लोग अब अचानक इसके विरुद्ध हो जाएंगे। लेकिन इससे फिल्म, साहित्य और दूसरे कला रूपों के उद्देश्यों को कमतर नहीं किया जा सकता। *आर्टिकल 15* ने वही काम किया है, जो किसी भी संवेदनशील और उद्देश्यपरक फिल्म को करना चाहिए। सभ्य, शिक्षित मनुष्य को भी इसी तरह बिना किसी त्वरित परिणाम की उम्मीद किए मनुष्यता के पक्ष में और बाड़ेबंदियों के विरुद्ध अपना अभियान जारी रखना चाहिए।

भारत में मुस्लिमों के साथ जिस तरह की राजनीति होती है, ठीक वैसी ही राजनीति पिछड़ों और दलितों के साथ भी होती है। संविधान या कानून जाति प्रथा को स्वीकार नहीं करता, लेकिन समाज करता है। सदियों तक दलितों को उनके अधिकारों से वंचित करने के बाद अब उनकी क्षतिपूर्ति का दौर चल रहा है। शिक्षा और रोजगार के क्षेत्रों में उन्हें आरक्षण की सुविधा दी जाती है। किंतु समाज में आज भी उन्हें घृणित माना जाता है और उनसे परहेज किया जाता है।

समग्रता में देखें, तो *आर्टिकल 15* कोई असाधारण फिल्म नहीं है। जापानी फिल्म *शॉपलिफ्टर्स* की तुलना में, जिसे पिछले साल कान्स फिल्म फेस्टिवल में पाम ड्योर पुरस्कार मिला, *आर्टिकल 15* को एक मेलोड्रामा ही कहा जा सकता है। यह फिल्म सच्ची घटनाओं पर आधारित है। जातिगत शोषण, सामूहिक बलात्कार के बाद गला दबाकर लड़कियों की हत्या कर देना या उन्हें बस से फेंक देना, जिंदा ही पेड़ पर लटका देना या टुकड़े-टुकड़े कर देना-ये सब कुछ आज की सच्चाई है। कभी-कभी मैं सोचती हूं कि स्त्री शोषण पर उपन्यास लिखने या फिल्म बनाने के लिए कल्पना की सहायता लेने की जरूरत नहीं है, सच्ची घटनाओं को जस का तस उतार देना ही काफी होगा।

हालांकि मैं जाति प्रथा को उतने सीमित ढंग से नहीं देखती। ऊंची जाति के पुरुष जिस तरह निचली जातियों की महिलाओं के साथ बर्बरता को अपना अधिकार मानते हैं, वैसे ही निचली जाति के पुरुष भी ऊंची जातियों की महिलाओं को अपना शिकार बनाते हैं, बेशक ऐसे मामले कम होते हैं। इसलिए समस्या सिर्फ जाति नहीं है, समस्या पुरुषवर्चस्ववादी सोच है। भारत में जातिगत विषमता मिटाने की जितनी कोशिशें हुई हैं, लैंगिक विषमता मिटाने के प्रयत्न, दुर्योग से, उतने नहीं हुए। जब तक महिलाओं के प्रति सोच नहीं बदलेगी, तब तक अपराध में कमी नहीं आएगी।

जीरो बजट खेती से हो सकती है दोगुना आय

अपनी कहानी

>> सुभाष पालेकर

मेरा बचपन विदर्भ के ग्रामीण परिवेश में बीता। बचपन से ही मुझे खेती के साथ ही प्रकृति को नजदीक से देखने का मौका मिला। मेरे पिता भी किसान थे। रासायनिक खेती से उत्पादन नहीं बढ़ते देख मैंने प्राकृतिक संसाधनों से ही इसके समाधान की तलाश शुरू की।

***वर्ष** 1972-73 में नागपुर के एग्रिकल्चर कॉलेज से कृषि स्नातक की पढ़ाई करने के बाद अपने गांव आकर मैंने खेती शुरू कर दी थी। मैंने आधुनिक खेती के रास्ते पर चलते हुए रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल किया। कई वर्षों बाद मुझे महसूस हुआ कि इस इनपुट से उत्पादन नहीं बढ़ रहा है। मैंने अपने कृषि शिक्षक से इसका निदान पूछा, तो उन्होंने इनपुट बढ़ाते रहने के लिए कहा। लेकिन कोई रास्ता नहीं निकला तो, मुझे सतपुड़ा के जंगलों का खयाल आया, जहां मुझे कॉलेज में पढ़ाई के दौरान जाना पड़ा था। मुझे एहसास हुआ कि जंगल में बिना किसी मानवीय सहायता के हरे-भरे पेड़ खड़े रहते हैं। इनके पोषण के लिए कोई रासायनिक उर्वरक भी नहीं डालता। तो फिर हमारे खेत में इनकी क्या जरूरत है?*

क्या है जीरो बजट खेती

मैंने 1985-86 के आसपास प्राकृतिक ढंग से खेती शुरू की। जीरो बजट नेचुरल फार्मिंग (जेडबीएनएफ) के लिए मैंने काफी शोध भी किया। मैंने पाया कि हमारी फसलों के लिए कार्बन डाईऑक्साइड, नाइट्रोजन, पानी और सौर ऊर्जा के रूप में जो 98 फीसदी पोषक तत्व जरूरी होते है, वे सब प्राकृतिक रूप से मौजूद हैं। मैंने अपने खेतों में ऐसी खेती कर शुरुआत की और आज विभिन्न राज्यों में लाखों किसान इसे अपना रहे हैं। कई राज्य सरकारों ने इसे मान्यता दी है। मैंने कुछ समय पहले पंजाब में एक कार्यक्रम में बताया था कि किस तरह से अमृतसर में एक संस्था जीरो बजट नेचुरल फार्मिंग के जरिये प्रति एकड़ 24 क्विंटल धान का उत्पादन कर रही है। इसका मतलब है प्रति हेक्टेयर 61 क्विंटल, जो कि कृषि विश्वविद्यालयों द्वारा किए जाने वाले हाइब्रिड बासमती के उत्पादन से दो गुना है। जीरो बजट खेती में उत्पादन की लागत कुछ भी नहीं होती। हम सिर्फ स्थानीय बीज का उपयोग करते हैं और अपने बीज का उत्पादन खुद करते हैं। इसमें खेतों की जुताई की जरूरत नहीं होती। किसी भी तरह के कीटनाशक का छिड़काव नहीं करना पड़ता। खेती के लिए सिर्फ दस फीसदी पानी की जरूरत होती है। इसमें उर्वरक का बिल्कुल भी इस्तेमाल नहीं होता और श्रम की भी बचत होती है। हम जो 'जीवामृत' उपयोग करते हैं, वह कोई खाद नहीं है। यह सूक्ष्म जीवाणु हैं। फसल के लिए जरूरी पोषण मिट्टी से मिलती है, जोकि पोषक तत्वों का सागर है, इसीलिए उसे अन्नपूर्णा कहा जाता है।

कर्ज समाधान नहीं

कर्ज किसानों की हताशा या उनकी परेशानियों का समाधान नहीं है। उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और कर्नाटक सहित अनेक राज्यों की सरकारों ने किसानों की कर्जमाफी की घोषणा की है। लेकिन बैंकों को पता है कि उन्हें अगले साल फिर किसानों को कर्ज देना होगा। हम कर्ज मुक्त खेती की बात कर रहे हैं और इसी पर काम कर रहे हैं। इसी में किसानों की परेशानियों का स्थायी समाधान निहित है।

नीति आयोग ने सहयोग मांगा

प्रधानमंत्री मोदी ने जब किसानों की हताशा दूर करने के लिए उनकी आय को दोगुना करने का लक्ष्य तय किया था, तब कृषि विशेषज्ञ और कृषि विश्वविद्यालयों के कुलपति इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए कोई ठोस प्रस्ताव पेश नहीं कर सके थे। उसी दौरान नीति आयोग ने मुझसे संपर्क कर सहयोग मांगा था। मेरा मानना है कि जीरो बजट प्राकृतिक खेती के जरिये किसानों की आय दोगुना की जा सकती है।

-पद्मश्री कृषि वैज्ञानिक सुभाष पालेकर के विभिन्न साक्षात्कारों पर आधारित।

फैक्ट फाइल

डायचे बैंक

>> डायचे बैंक

इस बैंक की स्थापना 10 मार्च, 1978 को बर्लिन में एक विशेषज्ञ बैंक के रूप में की गई थी।

डायचे बैंक बीते सोमवार को तब चर्चा में आया, जब हजारों कर्मचारियों को बैंक की ओर से नौकरी से निकाले जाने का लिफाफा सौंपा गया। जर्मन बैंक के री-स्ट्रक्चर होने की घोषणा के बाद इस बैंक ने अपने हजारों कर्मचारियों को काम से हटा दिया। डायचे बैंक की तरफ से बीते रविवार को घोषणा की गई थी कि वह अपने व्यापारिक व्यवसायों के बड़े हिस्से को बंद कर रहा है।

यह जर्मन बहुराष्ट्रीय निवेश बैंक और वित्तीय सेवा प्रदाता कंपनी है, जिसका मुख्यालय फ्रैंकफर्ट, जर्मनी में है। इसकी स्थापना 10 मार्च, 1870 में बर्लिन में विदेशी व्यापार के वित्तपोषण और जर्मन निर्यात को बढ़ावा देने के लिए एक विशेषज्ञ बैंक के रूप में की गई थी। बैंक की प्रारंभिक घरेलू शाखाएं, जिनका उद्घाटन 1871 और 1872 में हुआ था, ब्रेमेन व हैमबर्ग में खोली गई थीं।

इसने जर्मनी के उद्योग को विकसित करने में एक बड़ी भूमिका निभाई, क्योंकि इसका व्यावसायिक मॉडल औद्योगिक ग्राहकों को वित्त प्रदान करने पर केंद्रित था। यह बैंक यूरोप, अमेरिका और एशिया में बड़ी उपस्थिति के साथ करीब 72 देशों में अस्सी हजार कर्मचारियों के साथ परिचालन कर रहा है। अप्रैल 2018 तक, डायचे बैंक कुल संपत्ति के साथ दुनिया का 15वां सबसे बड़ा बैंक था। डॉयचे बैंक की स्थापना से पहले, जर्मन आयातक और निर्यातक दुनिया के बाजारों में ब्रिटिश और फ्रांसीसी बैंकिंग संस्थानों पर निर्भर थे। यह बैंक फ्रैंकफर्ट व न्यूयॉर्क स्टॉक एक्सचेंज, दोनों में ही सूचीबद्ध है।

दिन में मजदूर, रात को लेखक

मैट जर्बो ने 365 दिन में 365 बाल कहानियां लिखने का लक्ष्य रखा, जिस पर वह नियमित काम कर रहे हैं।

न्यूयॉर्क टाइम्स के लिए डैमियन केव

तस्मानिया (ऑस्ट्रेलिया) के एक जंगली इलाके में रात के जिस वक्त मैट जर्बो बच्चों के लिए अपनी 282 वीं कहानी लिखने के लिए सोफे पर बैठे, तब तक वह मशरूम के फार्म में अपने पूरे दिन की नौकरी निपटा चुके थे, समुद्र तट पर बेटी के साथ खेलने के बाद घर लौटकर रात का भोजन तैयार कर खा चुके थे। रात के दस बज रहे थे और उनकी आंखें बंद होने लगी थीं। पर व्हिस्की पीते हुए और वेनेजुएला का एक वीरगाथा गीत सुनते हुए उन्होंने एक छोटी लड़की की कहानी खत्म की, जिसे नाचना बेहद पसंद था। रात एक बजे उन्होंने कहानी ऑनलाइन पब्लिश कर दी। अपनी कहानियों की सीरीज पूरी करने में अब सिर्फ तिरासी कहानियां बची थीं। कहानी पब्लिश करने के चार घंटे बाद वह रात के बचे हुए भोजन को दोपहर के लंच के लिए डब्बे में पैक कर काम पर जाने की तैयारी कर रहे थे। 'ज्यादा बच्चे अब कहानियां और किताब पसंद करने लगे हैं,' जर्बो कहते हैं, 'कल्पना हमेशा ही युद्ध और हिंसा पर भारी पड़ती है।'

शाम को जब मैं जर्बो के लकड़ी से बने घर पर पहुंचा, तो पड़ोस की मुर्गियां उनके बरामदे में घूम रही

थीं। सब्जी और चावल के डिनर के बाद उनकी बेटी एक किताब से खेलने लगी, जबकि जर्बो और उनकी पत्नी ने मुझे अपनी कहानी सुनानी शुरू की।

हममें से अनेक अभिभावक, खासकर पहले बच्चे के जन्म के बाद अचानक कहानियों से प्यार करने लगते हैं। कुछ लोग तो कहानियों के प्रति अपने बच्चों की दिलचस्पी देख खुद कहानी लिखने लगते हैं। लेकिन जर्बो ने बीस महीने की अपनी बच्ची सिएलो के लिए जो चुनौती स्वीकार की, वह तो रचनात्मकता के क्षेत्र में एक केस स्टडी है। जर्बो एक लेखक हैं, जिनके चार उपन्यास, बच्चों की आठ किताबें और ऑस्ट्रेलियाई फुटबॉल के इतिहास पर एक किताब प्रकाशित है। लेकिन यह उनका पूरा परिचय नहीं है। वह एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं, जो जोखिम उठाना पसंद करता है। तीस साल तक पौधे लगाते हुए और रास्ता तैयार करते हुए उनके हाथ इस तरह हो गए हैं कि अब उनकी मुट्ठियां नहीं बंधतीं। वह कहते हैं, 'शादी करने और पिता बनने के बारे में तो मैंने कभी सोचा ही नहीं था। बल्कि जिस तरह का कठिन जीवन मैं बिता रहा था, उसमें लगता था कि एक दिन जंगल में ही मेरी मौत हो जाएगी।'

लेकिन तीन साल पहले पहाड़ पर एलिना से जर्बो की मुलाकात हुई और फिर जीवन बदल गया। जर्बो अपनी आखिरी किताब से असंतुष्ट थे और भागकर पहाड़ पर चले गए थे, जबकि एलिना पति से अलग होने के बाद एकांत की तलाश में पहाड़ पर आई थी। एलिना से दोस्ती और फिर शादी कर लेने के बाद जब सिएलो का जन्म हुआ, तब जर्बो ने 365 दिन में बच्चों की 365 कहानियां ऑनलाइन लिखने का कठिन लक्ष्य चुना। जर्बो कहते हैं कि मशरूम के फार्म की नौकरी में उनका मन नहीं लगता। 16 डॉलर प्रति घंटे की मजदूरी भी परिवार पालने के लिए काफी नहीं है। लेकिन चुनौतियों को स्वीकार करना जर्बो के स्वभाव में है। काम करते-करते ही उनके दिमाग में नई कहानी का आइडिया आ जाता है, जिस पर वह रात में काम करते हैं।

सूत्र

>> ली का-शिंग

प्लास्टिक के फूलों से संवारा अपना भविष्य

मेरा जन्म 13 जून, 1928 को चीन के ग्वांगडोंग के चाओझोउ में हुआ था। जब मैं प्राइमरी कक्षा में था, तब जापानियों द्वारा हमारे इलाके पर बम गिराना आम बात थी, इसलिए हमारे परिवार ने हांगकांग में जाकर शरण ली। मेरे पिता स्कूल प्रिंसिपल थे, लेकिन दुर्भाग्यवश टीबी के कारण उनकी मृत्यु हो गई। नतीजतन मुझे बेमन से स्कूल छोड़ना पड़ा और परिवार चलाने के लिए एक प्लास्टिक फैक्टरी में काम करना पड़ा। मेरा परिवार इतना गरीब था कि मुझे भोजन जुटाने के लिए अपने मृत पिता के कपड़े बेच देने पड़े। जिस उम्र में मेरे दोस्त स्कूल में पढ़ाई करते या खेलते थे, उस उम्र में मुझे फैक्टरी में सोलह घंटे से ज्यादा काम करना पड़ता था। भयंकर गरीबी और असहाय होने के भाव ने मेरे मन पर इतना गहरा असर डाला कि पैसे कमाने की मुझ पर धुन सवार हो गई। वर्ष 1950 में बाईस वर्ष की उम्र में मैंने नौकरी छोड़ दी और अपने परिचितों और निकट संबंधियों से पैसे उधार लेकर प्लास्टिक के खिलौने बनाने वाली कंपनी-चेउंग कांग शुरू की। लेकिन शीघ्र ही मुझे पता चला कि प्लास्टिक के फूल काफी लोकप्रिय हो रहे हैं, इसलिए मैं खिलौने बनाने का फैसला त्यागकर प्लास्टिक के फूल बनाने लगा, जिसने मेरी किस्मत बदल दी। चूंकि शुरू से ही गरीबी का स्वाद मैंने चख लिया था, इसलिए पैसे की कीमत पहचानता था और उसे बचाकर रखता था। बचत के पैसे से मैंने पूरे हांगकांग में बिल्डिंग अपार्टमेंट और फैक्टरियां खरीदीं। वह गंभीर सामाजिक अशांति का काल था, इसलिए मैं ये अचल संपत्तियां भारी छूट पर खरीद रहा था। जब सामाजिक अस्थिरता का दौर खत्म हुआ, तो मैंने उन्हें बेचना शुरू कर दिया, इससे मुझे काफी मुनाफा हुआ। उसके बाद मैंने घाटे में चल रही कई कंपनियों का अधिग्रहण किया और उन्हें मुनाफा देने वाली कंपनी में तब्दील किया। अपने पूरे जीवन में मैंने अचल संपत्ति और विभिन्न श्रेणियों के उद्योगों में निवेश जारी रखा। मेरी कंपनी हांगकांग के बंदरगाह यातायात के 70 फीसदी हिस्से पर नियंत्रण रखती है, इसके अलावा बिजली कंपनियों और मोबाइल फोन सेवा में भी मेरी हिस्सेदारी है। फेसबुक और स्काइप के अलावा कई उद्यमों में भी मैंने निवेश किया है। मेरा मानना है कि ज्ञान केवल एक डिग्री या प्रशिक्षण से हासिल नहीं हो सकता, यह व्यापक दृष्टिकोण, रचनात्मक सोच की क्षमता और तार्किक अनुमान की मांग करता है, इसके बिना हम रचनात्मक प्रगति नहीं कर सकते।

ज्ञान केवल डिग्री से हासिल नहीं हो सकता, यह व्यापक दृष्टिकोण, रचनात्मक सोच की क्षमता और तार्किक अनुमान की मांग करता है।

इस हफ्ते के शब्द

राहुल द्रविड़

बीसीसीआई ने भारतीय क्रिकेट टीम के पूर्व कप्तान राहुल द्रविड़ को राष्ट्रीय क्रिकेट अकादमी का क्रिकेट ऑपरेशन का प्रमुख बनाया है।

गेरीमैंडरिंग
(GERRYMANDERING)
अमेरिका में इन दिनों यह शब्द सुर्खियों में है। इसका अर्थ होता है चुनावी जिलों की सीमाओं को इस तरह निर्धारित करना, जो सत्तारूढ़ दल को अनुचित लाभ देता है।

लावारिस रकम

14,578 करोड़

रुपये भारतीय बैंकों में 2018 के अंत तक जमा थे, जिनका कोई दावेदार नहीं है। यह वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण ने संसद में बताया।